

---

## इकाई 12 संप्रभुता

---

### इकाई की रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 संप्रभुता की प्रकृति
- 12.3 संप्रभुता क्या है?
- 12.4 संप्रभुता के लक्षण
- 12.5 संप्रभुता संबंधी धारणा का विकास
- 12.6 विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता
- 12.7 संप्रभुता का स्थान निर्धारण
  - 12.7.1 राजतंत्र की संप्रभुता
  - 12.7.2 प्रजा की संप्रभुता
  - 12.7.3 संप्रभुता : संविधान-निर्माण शक्ति के रूप में
  - 12.7.4 कानून-निर्माण शक्ति संबंधी संप्रभुता
- 12.8 डी जॉर और डी फैक्टो संप्रभुता
- 12.9 संप्रभुता विषयक सीमाएँ
  - 12.9.1 नैतिक सीमाएँ
  - 12.9.2 संवैधानिक सीमाएँ
  - 12.9.3 अन्तरराष्ट्रीय सीमाएँ
- 12.10 संप्रभुता-सिद्धांत विषयक आलोचनाएँ
- 12.11 सारांश
- 12.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 12.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

### 12.0 उद्देश्य

---

इस इकाई में आप पढ़ेंगे राजनीति-विज्ञान में प्रयुक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवधारणा के विषय में, यथा संप्रभुता यानी संप्रभुता के विषय में। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- संप्रभुता की अवधारणा को समझ सकें और उसकी प्रकृति व लक्षणों को जान सकें;
- इस सिद्धांत की उत्पत्ति को तलाश कर सकें और इसका स्थापन व विविधताओं को स्पष्ट कर सकें;
- संप्रभुता की अवधारणा के विरुद्ध अभिलक्षित तीखी आलोचनाओं का विवेचनात्मक रूप में मूल्यांकन कर सकें; तथा
- आज के विश्व में इस अवधारणा का औचित्य जान सकें।

---

### 12.1 प्रस्तावना

---

इससे पहले कि हम संप्रभुता की संकल्पना का विप्लेषण करें, हमें राजनीति के अर्थ, राजनीति के साथ अन्य सामाजिक विज्ञानों के संबंध एवं राज्य के अर्थ के बारे में पूरी समझ

होनी चाहिए। उदारवादी दृष्टिकोण राजनीति को विवाद निपटाने, एकता कायम करने हेतु एक सामाजिक प्रक्रिया मानता है : समाज की आम भलाई के लिए और शान्तिपूर्व। मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति को समाज में वर्ग-सम्बंधों एवं वर्ग-संघर्षों का एक अध्ययन मानता है। इसी प्रकार, राज्य को एक संस्था के रूप में लिया है, जो कि समाज में ये सभी कार्य निष्पादित करता है। एक बुनियादी प्रश्न यहाँ यह उठता है – राज्य ये सभी कार्य किस प्रकार करता है? इस प्रश्न के उत्तर में, यह कहा जा सकता है कि वह ये सभी कार्य किसी प्राधिकार अथवा अवपीडक शक्ति की मदद से करता है, जिसे संप्रभुता कहा जाता है। यदि समाज में विवाद हैं और इन विवादों को सुलझाने के लिए एक अवपीडक शक्ति है, तो अनेक प्रश्न उठते हैं— यह किसी अवपीडक शक्ति क्या है? इसका स्वभाव क्या है? इसके आधार क्या हैं? एक संकटग्रस्त, वर्ग-विभाजित समाज में यह एकता कैसे कायम कर सकती है? राज्य को यह सम्पूर्ण शक्ति रखनी चाहिए अथवा इसको समाज की अन्य संस्थाओं के साथ बाँट लेना चाहिए? ये सभी प्रश्न किसी न किसी तरीके से संप्रभुता के मुद्दे से जुड़े हैं, जिनको हम इस इकाई में देखेंगे।

## 12.2 संप्रभुता की प्रकृति

राज्य का राज्य से, किसी राज्य का उसके नागरिकों से, और एक नागरिक का दूसरे नागरिक से संबंध केवल उस लक्षण की एक अतिरिक्त चर्चा के बाद ही समझा जा सकता है, जो राज्य को अन्य सभी संगठनों से अलग करता है, उसकी संप्रभुता। एक अन्य कसौटी है कानून की प्रकृति, चूँकि उस रूप में ही राज्य की संप्रभुता स्वयं को अभिव्यक्त करती है।

संप्रभुता की अवधारणा ही आधुनिक राजनीतिक-विज्ञान का आधार है। यह सभी कानूनों की वैधता में निहित होती है और सभी अन्तरराष्ट्रीय संबंधों को तय करती है। इसकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है : जब लोगों का एक स्वतंत्र समूह एक ऐसी सरकार के माध्यम से संगठित किया जाता है जो कानून बनाती व लागू करती है, तो राज्य अस्तित्व में आता है। इस समूह के भीतर इच्छा और शक्ति की सर्वोच्चता आवश्यक है। इसको अपने में अवष्य ही एक ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का निकाय शामिल करना चाहिए जिनके आदेशों का पालन होता हो और जो, आवश्यकता पड़ने पर, बल-प्रयोग के माध्यम से उन आदेशों को निष्पादित करा सकें। ऐसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का निकाय संप्रभुता का प्रयोग करता है, और ऐसे आदेशों को कानून कहा जाता है। स्पष्ट रूप से, संप्रभुता के लिए कोई भी कानूनी सीमा नहीं हो सकती, क्योंकि उसका मतलब होगा एक उच्चतर कानून-निर्मातृ निकाय, और पलटकर वही संप्रभु होगा। राज्य, इसी कारण, कानूनी रूप से संप्रभु होता है।

असीमित कानूनी शक्ति रखते हुए, राज्य व्यक्तियों को कुछ निश्चित अधिकार व विशेषाधिकार प्रदान करता है और अपनी स्वयं की गतिविधियों हेतु सीमाएँ निर्धारित करता है। एक राज्य अपने प्रदेशों को एक बड़े पैमाने पर स्वायत्तता दे सकता है अथवा अपने स्थानीय प्रखण्डों को व्यापक शक्तियाँ दे सकता है, और यदि वह किसी भी समय इन प्रतिनिधि शक्तियों को कानूनन वापस ले सकता हो तो भी संप्रभुता अपने पास रख सकता है।

आन्तरिक व बाह्य संप्रभुता के बीच प्रायः भेद किया जाता है। लेखक, खासकर अन्तरराष्ट्रीय कानून पर लिखने वाले, कभी-कभी आन्तरिक संप्रभुता के संबंध में कहते हैं कि यह एक राज्य के क्षेत्रफल की जनसंख्या के संदर्भ में कानून बनाने और लागू करने का किसी अधिकार है, और बाह्य संप्रभुता अन्य राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने व कायम रखने

का अधिकार, जिसमें युद्ध-घोषणा व शान्ति-प्रयास शामिल हैं। बाह्य संप्रभुता संबंधी अवधारणा आपत्तिजनक है, क्योंकि इसका निहितार्थ है कि एक राज्य अन्य राज्यों के सामने संप्रभु अधिकार रखता है, जो कि सत्य नहीं है। अन्य लेखक बाह्य संप्रभुता को किसी अन्य राज्य कार्रवाई संबंधी अपनी पूर्ण स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबंध लगाने पर राजी होते हैं, उनकी संप्रभुता को समाप्त नहीं करते, क्योंकि उनको लागू करने हेतु कोई भी प्रकार कानूनी बाध्यकारी प्राधिकरण नहीं होता। यदि कोई राज्य आन्तरिक रूप से संप्रभु है, तो उसे बाह्य रूप से कानूनन आवश्यक होना अनिवार्य है। संप्रभुता में, सटीक रूप से कहे जाने पर, एक राज्य के उसके अधिवासियों के साथ आन्तरिक संबंध होते हैं; यह एक संवैधानिक कानून का शब्द है, न कि अन्तरराष्ट्रीय कानून का। यह एक कानूनी अवधारणा है और इसमें सिर्फ सकारी कानून होते हैं।

अन्तिम विप्लेषण में, संप्रभुता या तो बल-प्रयोग अथवा सर्वसम्मति पर अथवा इन दोनों के मिश्रण पर आधारित होती है। लोग आज्ञापालन करते हैं क्यों कि वे मानते हैं कि ऐसा करना वांछित है। निरंकुष राज्यों में, लोग भयवष आज्ञापालन करते हैं, जबकि लोकतांत्रिक राज्यों में बहुसंख्य लोग सर्वसम्मति से आज्ञापालन करते हैं। बल-प्रयोग सिर्फ कुछेक लोगों के लिए चाहिए होता है जो आज्ञापालन से इंकार करते हैं। अपनी आज्ञाओं के समर्थन एवं आज्ञापालन की हेतु बल रखना ही राज्य को अन्य सभी संस्थाओं से अलग करता है और उसे संप्रभु बनाता है।

## 12.3 संप्रभुता क्या है?

राज्य की अवधारणा की भाँति ही, संप्रभुता भी ऐतिहासिक परिस्थितियों में परिवर्तनों से गुज़री है। 18वीं व 19वीं शताब्दियों के दौरान, संप्रभुता कानूनी अवधारणा मतलब पूरा करती होगी, परन्तु हमारे समय में नहीं करती। राज्य अकेले कानून अथवा आज्ञा के आधार पर अपना काम नहीं चला सकता। आज पुराने जमाने के शासक की नितांत सत्ता के स्थान पर संप्रभुता लागू करने हेतु जनमत पर काबू करने की शक्ति आ गई है। इसकी वैधता सामाजिक विवाद निपटाने, व्यवस्था लागू करने और समुदाय के आम हित साधने हेतु उसकी क्षमता पर अधिक निर्भर है। यह बात राज्य के प्राधिकार संबंधी एक उचित समझ प्रदान करती है। इसका प्राधिकार उसकी अवपीड़क शक्ति की बजाय आज्ञापालन करने हेतु जनसाधारण की इच्छा पर अधिक निर्भर होता है। यही है संप्रभुता का उदारवादी अर्थ। तथापि, उदारवादी जन राज्य की अवपीड़क शक्ति को पूरी तरह नहीं टुकराते, और यह मत रखते हैं कि सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को बचाने के लिए, आवश्यक होने पर, इसका प्रयोग विधिसंगत हो सकता है।

बहरहाल, संप्रभुता का एक और दृष्टिकोण भी है, जो संप्रभु को समाज के एक वर्ग-विषेय का दूसरे पर अधिकार मानता है। यह विचार समाज के एक वैज्ञानिक विप्लेषण पर आधारित है और मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, राज्य और संप्रभुता एक आर्थिक रूप से उस प्रबल वर्ग की सत्ता है, जो उसे अपने हित वृद्धि के लिए प्रयोग करता है। मार्क्सवाद का सुझाव है कि एक पूँजीवादी राज्य में संप्रभुता को एक समाजवादी क्रांति द्वारा नष्ट कर किया जाना चाहिए और इसके स्थान पर कामगार वर्ग की संप्रभुता लानी चाहिए — यथा, सर्वहारा की तानाशाही। एक वर्गरहित समाज में राज्य समाप्त हो जाएगा। एक वर्ग-रहित समाज में, संप्रभुता, जो कि एक वर्ग सत्ता है, का कोई स्थान नहीं होगा।

वर्तमान शताब्दी में, कुछ बहुवादियों व आचरणशास्त्रियों (Behaviouralists) ने संप्रभुता की एक नई व्याख्या दी है। बहुवादी अवधारणा के अनुसार, किसी समाज में सत्ता राज्य

में केन्द्रीकृत नहीं होती, बल्कि विभिन्न संस्थाओं व समूहों में बँटी रहती है। आचरणशास्त्रियों का कहना है कि एक लोकतांत्रिक समाज में, सत्ता एक प्रतिस्पर्धारत अनेक संख्यक अभिजात वर्ग द्वारा बाँट ली जाती है। इस प्रकार, एक लोकतांत्रिक सत्ता को विकीर्ण माना जाता है, न कि केन्द्रीकृत।

**बोध प्रश्न 1**

**नोट:** i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता क्या है?

.....  
.....  
.....  
.....  
.....  
.....

2) संप्रभुता की प्रकृति संबंधी व्याख्या अपने शब्दों में कीजिए।

.....  
.....  
.....  
.....  
.....  
.....

---

**12.4 संप्रभुता के लक्षण**

---

इकाई के इस भाग में, हम संप्रभुता-संबंधी अनेक मुख्य लक्षणों पर चर्चा करेंगे, जो राज्य के आज्ञापालन हेतु नागरिकों के लिए उसे अनिवार्य बनाते हैं। संप्रभुता के लक्षण संक्षेप में निम्न प्रकार कहे जा सकते हैं:

1) **चरमता** : इसका अर्थ है कि राज्य में इससे बढ़कर कोई भी वैध सत्ता नहीं हो सकती, और राज्य की सर्वोच्च कानून-निर्मात्री सत्ता के लिए कोई कानूनी सीमा नहीं हो सकती। यह इस अर्थ में चरम है कि यह किसी अवरोध, कानूनी अथवा कोई अन्य, के अधीन नहीं है। एक सभ्य समाज में, यद्यपि संप्रभु द्वारा पारित कानून सभी संस्थाओं व नागरिकों पर बाध्यकारी होते हैं, फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि राज्य की संप्रभुता पर कोई व्यावहारिक प्रतिबंध नहीं है। कुछ निश्चित स्वयं-स्थापित सीमाओं, आन्तरिक अथवा बाह्य, को कानूनन प्रतिबंधों के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। ये सीमाएँ राज्य की “चरम” प्रकृति द्वारा काबू में रखी जाती हैं।

- 2) **सर्वव्यापकता:** राज्य की संप्रभुता राज्य में हर व्यक्ति और व्यक्तियों की हर संस्था तक विस्तृत होती है। राजनयी प्रतिनिधियों के उदाहरण में प्रतीतमान अपवाद (exceptional) है एक अन्तरराष्ट्रीय शिष्टाचार, जिसे राज्य किसी भी समय हटा सकता है।
- 3) **स्थायित्व:** राज्य की संप्रभुता तब तक कायम रहती है जब तक कि राज्य स्वयं अस्तित्व में रहता है। वे जो इसका प्रयोग करते हैं बदल सकते हैं, और सम्पूर्ण राज्य पुनर्संगठित हो सकता है; परन्तु संप्रभुता, कहीं भी रहे, डटी रहती है। सिर्फ राज्य के विध्वंस द्वारा ही संप्रभुता को नष्ट किया जा सकता है।
- 4) **अभाज्यता:** इसका निहितार्थ है कि किसी राज्य में सिर्फ एक ही संप्रभुता हो सकती है। संप्रभुता को विभाजित करना उसे नष्ट करना है। उसकी शक्तियों का प्रयोग विभिन्न सरकारी अंगों में विभाजित किया जा सकता है, परन्तु संप्रभुता एक इकाई है, ठीक वैसे जैसे राज्य एक इकाई है। संख्या में उतने में ही राज्य हो सकते हैं जितने कि संप्रभुताएँ। किसी विभाजित संप्रभुता का अर्थ है, एक शाब्दिक विरोध।

संप्रभुता-संबंधी अभाज्यता सिद्धांत की विभिन्न दृष्टिकोणों से तीखी आलोचना हुई है। अन्तरराष्ट्रीय कानून पर लिखने वाले संप्रभु राज्यों का पक्ष लेते हैं, जैसे कि संरक्षित राज्य। विभाजित संप्रभुता संबंधी सिद्धांत अधिकतर अमेरिकी विचारकों द्वारा रखा गया, जो संयुक्त राज्य अमेरिका को राष्ट्रीय सरकार को प्रदत्त अधिकारों के लिहाज से संप्रभु के रूप में, और राज्यों को उनके लिए आरक्षित उन अधिकारों के लिहाज से संप्रभु मानते थे। जर्मन लेखकों ने जर्मन साम्राज्य के बनने के समय इस सिद्धांत को पुनरुज्जीवित किया, परन्तु अब इसको छोड़ दिया गया है। किसी संघीय व्यवस्था में विभाजित राज्य में विद्यमान संप्रभुता संप्रभुता नहीं है, बल्कि विभिन्न सरकारी अंगों के बीच एक संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार वितरित अपनी विभिन्न शक्तियों का प्रयोग संप्रभुता है। अभी हाल में, विभाजित संप्रभुता सिद्धांत उन बहुवादियों द्वारा पुनरुज्जीवित किया गया है जो इस बात से इंकार करते हैं कि राज्य अकेले ही संप्रभु है और जिनका कहना है कि राज्य में अन्य संस्थाएँ, जैसे कि चर्च अथवा आर्थिक समूह, अपने विषिष्ट हितों के विषय पर संप्रभु हैं।

## 12.5 संप्रभुता संबंधी धारणा का विकास

संप्रभुता की धारणा का संबंध अरस्तू से जोड़ा जा सकता है, जिसने राज्य की 'सर्वोच्च शक्ति' के विषय में लिखा। रोम के वकीलों व मध्यकालीन लेखक, हालाँकि, संप्रभुता की प्रकृति संबंधी एक कुछ-कुछ अस्पष्ट और अस्तव्यस्त धारणा रखते थे। मध्य युग में, आधुनिक अर्थ में राज्य का अस्तित्व नहीं था। सामन्तवाद एक सरकारी व्यवस्था थी जो व्यक्तिगत गठबंधन पर आधारित थी। तथापि, सामन्ती अभिजात्य धर्मयुद्धों व अपने निजी झगड़ों के कारण कमजोर हो गए थे। उनकी कमजोरी का लाभ उठाकर, राज्य अपनी शक्ति व महत्त्व को बढ़ाता रहता था जब तक कि वह राज्य में सर्वोच्च न बन जाए। तदोपरांत, जैसे ही लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया कि सरकार एक स्वामी की बजाय एक एजेंट है, संप्रभुता राज्य की बजाय स्वयं राज्य में लागू कर दी गई।

उदयीमान राष्ट्रीय राज्य व उसके विभिन्न आंतरिक व बाह्य प्रतिद्वन्द्वियों—सामन्ती शासकों, पोप समुदाय व पवित्र रोमन साम्राज्य — के बीच संघर्ष ने ही संप्रभुता संबंधी आधुनिक सिद्धांत को जन्म दिया। 16वीं सदी में जां बॉदा प्रथम लेखक थे जिन्होंने संप्रभुता की प्रकृति व लक्षणों पर विस्तार से चर्चा की। राज्य को उसके सभी नागरिकों पर सर्वोच्च और किसी भी प्रकार के बाह्य दबावों से युक्त माना गया। इस धारणा को आगे हॉब्स द्वारा विकसित किया गया जिन्होंने इसकी निरंकुष शक्तियों को सही ठहराया। रूसो भी सहमत

थे कि संप्रभुता चरम और असीमित होती है, यद्यपि उन्हेंने इसे लोगों की आम इच्छा में तलाश किया। अन्ततः, जॉन ऑस्टिन के लेखों में, संप्रभुता संबंधी कानूनी सिद्धांत का सर्वाधिक विस्तारपूर्वक प्रतिपादित विप्लेषण मिला। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि हरेक राज्य में, एक निर्णयकारी निकाय अवश्य होता है जोकि कानूनन असीमित होता है और उसकी आज्ञाएँ अकेले ही कानून बनाती है। यह सिद्धांत आधुनिक ज्यूरिसप्रुडेंस हेतु आधार प्रदान करता है, हालाँकि इसकी अनेक लेखकों ने आलोचना की है।

**बोध प्रश्न 2**

**नोट:** i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता के विषिष्ट लक्षणों को इंगित कीजिए।

.....  
.....  
.....  
.....  
.....  
.....  
.....

2) संप्रभुता संबंधी अवधारणा के विकास का सूत्रबद्ध वर्णन करें।

.....  
.....  
.....  
.....  
.....  
.....  
.....

---

**12.6 विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता**

---

राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर समझना आवश्यक है।

विधिसंगत यानी कानूनी संप्रभुता संप्रभुता को सर्वोच्च कानून-निर्मात्री शक्ति के रूप में सामने रखती है; यथा, उच्चतम आदेश जारी करना। वह न तो नैतिक कानूनों द्वारा बाध्य है और ना ही प्राकृत कानूनों द्वारा। संप्रभु द्वारा बनाए गए कानून सभी द्वारा अनिवार्य रूप से पालन किए जाने होते हैं। परन्तु तब प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक राज्य में यह कानूनी संप्रभुता कहाँ होती है? एक संघीय राज्य में, विधायिका राज्यों को सौंपे गए विषयों पर कानून नहीं बना सकती है, क्योंकि संविधान के अनुसार शक्तियां केन्द्र और राज्यों के बीच विकेंद्रित होती हैं। इस प्रकार कानूनी संप्रभुता विधायिका में स्थित नहीं होती है। यहाँ तक कि ब्रिटिश संसद भी जहाँ कि राज्य/रानी न्यायालयों द्वारा अनियंत्रित कानून बना

सकते हैं, भी जनमत एवं नैतिक व अन्य कानूनों द्वारा बाध्य है। अधिक विस्तृत रूप से, नैपोलियन, हिटलर व मुसोलिनी जैसे तानाषाहों के पास भी असीमित कानून-निर्माण शक्तियाँ नहीं थीं। इस प्रकार, वास्तविक राजनीतिक जीवन में, कानूनी संप्रभुता, किसी भी कानून को बनाने के अविवादित सर्वोच्च शक्ति के रूप में, आमतौर पर देखने में नहीं आती।

इस प्रकार, फिर से तफसीलवार कहने पर, कानूनी संप्रभुता निर्णायक एवं निष्चित होती है, कानून बनाने की सर्वोच्च व असीमित शक्तियाँ रखती है, उसके कानूनों का सभी द्वारा पालन किया जाता है व उसमें दण्ड अथवा अवज्ञा शामिल होती है, और अन्ततः चूँकि यह साथी कानूनी अधिकारों का मूल स्रोत होती है, अकेले इसी के पास कानून-निर्माण शक्ति होती है। कानूनी संप्रभुता का सबसे स्पष्ट बयान ऑस्टिन के संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत में पाया जाता है।

अब, हम देख चुके हैं कि विधिसंगत संप्रभुता सर्वसत्ता का महज एक कानूनी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। प्रत्येक समाज में, कानूनी संप्रभुता के पीछे एक अदृश्य शक्ति होती है। इस अदृश्य शक्ति को राजनीतिक संप्रभुता के नाम से जाना जाता है, जो कि जन सभाओं, जुलूसों व प्रदर्शनों जैसे अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। यदि विधिसंगत संप्रभुता के कानून अनैतिक हों तो राजनीतिक संप्रभुता की यह असंगठित शक्ति विधिसंगत संप्रभुता को झुकने पर मजबूर कर सकती है। इस प्रकार, राजनीतिक संप्रभुता अनदेखी और अधिक महत्वपूर्ण आज्ञा होती है। यही सतर्क व सचेत लोगों की क्रांतिकारी शक्ति होती है।

इतिहास ने कानूनी संप्रभुता को समाप्त कर देने वाली इस क्रांतिकारी राजनीतिक संप्रभुता के अनेक उदाहरण पेश किए हैं; यथा 1917 में रूस के ज़ार निकोला को लेनिन की राजनीतिक संप्रभुता द्वारा अपदस्थ कर दिया गया, चीन के चियांग काइ-षेक को माओ-ज़िदोंग के नेतृत्व द्वारा बरबाद कर दिया गया, और इसी प्रकार की घटनाएँ ईरान, दक्षिण अफ्रीका व रोडे़षिया में निरंकुष शासनों के विरुद्ध हुईं। इस संप्रभुता का भय ही कानूनी संप्रभुता को दृढ़ और सतर्क रखता है। यदि कानूनी संप्रभुता को कायम रहना है, तो उसको राजनीतिक संप्रभुता के अंतरंग सहयोग से ही काम करना होगा।

एक प्रतिनिधि लोकतंत्र में, कानूनी व राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है, क्योंकि जनता के प्रतिनिधि (सरकार) ही कानूनी संप्रभु होते हैं और निर्वाचक राजनीतिक संप्रभु। परन्तु एक प्रत्यक्ष लोकतंत्र में, यह अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, कारण यह है कि प्रजाजन (राजनीतिक संप्रभु) कानूनी संप्रभु भी होते हैं, क्योंकि वे स्वयं कानून बनाते हैं। चीन व रूस जैसे समाजवादी देशों में, संगठित जन-संगठनों के माध्यम से भागीदारी कानूनी व राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर समाप्त करने के लिए पर्याप्त होती है। तथापि, निरंकुष राज्यों में, यह अंतर बहुत स्पष्ट हो जाता है – □पुलिस, सेना, कारागार, लाठी, गोली आदि कानूनी संप्रभुता दर्शाते हैं; और जनता, उनके संगठन, जन-आन्दोलन व संघर्ष, हड़तालें, प्रदर्शन आदि। राजनीतिक संप्रभुता प्रबल होती है। परन्तु एक वर्ग-विभाजित समाज में यह नितांत असंभव है, क्योंकि दोनों वर्गों – सम्पत्ति धारकों व सम्पत्ति रहित – के वर्ग-हित पूरी तरह से विपरीत होते हैं।

### बोध प्रश्न 3

**नोट:** i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

---

## 12.7 संप्रभुता का स्थान निर्धारण

---

राजनीति-सिद्धांत में सबसे जटिल प्रश्नों में एक, राज्य में संप्रभुता की स्थापना संबंधी है। अब, जब हम यह जानते हैं कि संप्रभुता राज्य का सारतत्त्व है, वह अन्य राज्यों से आंतरिक व बाह्य स्वतंत्रता दर्शाती है और इसमें व्यक्तियों पर कानूनी सर्वोच्चता शामिल है, इसके स्थान-निर्धारण का प्रश्न अब भी अनुत्तरित है। इसके लिए अनेक उत्तर प्रस्तावित हैं, जिन पर अब हम नज़र डालेंगे।

### 12.7.1 राजतंत्र की संप्रभुता

राज्य की संप्रभुता सोलहवीं सदी में सम्राट् की शक्ति से पहचानी गई। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए, राजाजन संघर्ष छेड़ते थे, जिससे संप्रभुता की अवधारणा ने जन्म लिया। जब प्रतिद्वन्द्वियों पर सफलता मिल जाती थी, तो संप्रभुता राजाओं को प्रदान कर दी जाती थी। राजा संप्रभु होता था और यह भी कहता था, “मैं ही राज्य हूँ”। इस सिद्धांत ने राजा को सम्पूर्ण कानून व प्राधिकार का स्रोत बना दिया, वह कोई ग़लती नहीं कर सकता था; अधीनस्थों को सकारी आज्ञापालन दर्शाना होता था। तथापि, आधुनिक लोकतंत्र क्रांतियों के रास्ते सामने आया व इस प्रकार, इस सिद्धांत को समाप्त कर दिया और राजागण सरकार के अमहत्त्वपूर्ण भाग बन गए।

### 12.7.2 प्रजा की संप्रभुता

इस सिद्धांत को जन-संप्रभुता सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता था, जिसका अर्थ था कि प्रजा ही सर्वोच्च सत्ता रखती है और प्रजाजन ही सभी शक्तियों का स्रोत हैं। इसका मतलब है कि राज्यों की संप्रभुता न तो ईश्वर पर आधारित है और न ही आरक्षित सत्ता पर, प्रत्युत प्रजा की इच्छा पर आधारित होती है। जन-संप्रभुता हेतु माँग 15वीं सदी में परिषदी आन्दोलन (Conciliar Movement) के समर्थकों द्वारा चर्च के प्राधिकार संबंधी विरोध स्वरूप उठायी गई। परन्तु आधुनिक युग में, यह रूसो के नाम से जुड़ी है, जिसने 18वीं शती में इसका समर्थन आम-इच्छा संबंधी अपने सिद्धांत में किया। जन-संप्रभुता के सिद्धांत ने फ्रांसीसी सम्राट् को अपदस्थ कर दिया, वह अमेरिकी क्रांति का कारण बनी और निरंकुषता के विरुद्ध सभी क्रांतियों के पीछे ज्वलंत धारणा रही है। यह सिद्धांत यूरोप को राजतंत्रों का कब्रिस्तान बनाने के लिए भी जिम्मेदार है। इस प्रकार, जन-संप्रभुता यूरोप में एक सशक्त क्रांतिकारी विचार के रूप में उभरी है। यह सिद्धांत ही प्रस्तुत: सभी आधुनिक लोकतंत्रों का आधार है।

लेकिन जन-संप्रभुता सिद्धांत के साथ खास दिक्कत (मान्यता) है इसका यह मानना कि समस्त जनता एक ही इच्छा रखती है। यह सिद्धांत यह नहीं मानता कि समाज वर्ग-विभाजित है और कि विभिन्न वर्गों के हित एक-दूसरे के विपरीत हैं। एक वर्ग-विभाजित

समाज में दो इच्छाएँ होती हैं —□ एक शोषणकारी धनी वर्ग की और दूसरी शोषित गरीब वर्ग की। ये इच्छाएँ कभी भी नहीं मिल सकतीं और जैसे कि, समग्र जनसाधारण एक ही इच्छा नहीं रख सकता है। इस बात के मद्देनजर, जन-संप्रभुता सिद्धांत अस्पष्ट और अनिर्णयकारी हो जाता है। कानूनी दृष्टिकोण से, जन-संप्रभुता सिद्धांत महज एक कल्पितकथा है, क्योंकि वह आज के राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं में फिट नहीं बैठता। लोकतंत्र के अभिजात्य सिद्धांत ने सिद्ध किया है कि जन-संप्रभुता आधुनिक लोकतंत्रों में भी एक नकली सिद्धांत है। कुछ लेखकों के अनुसार, जन-संप्रभुता को निर्वाचकगण अथवा निर्वाचकगण की बहुसंख्या में खोजा जा सकता है और दूसरों के अनुसार, इसको असंगठित जनसाधारण में खोजा जा सकता है। परन्तु यह दृष्टिकोण वस्तुतः सत्य नहीं है। जनता की संप्रभुता चुनावों में व्यक्त नहीं होती, बल्कि यह लोगों के क्रांतिकारी संघर्षों एवं जन-आन्दोलनों में व्यक्त होती है। एक वर्ग-विभाजित समाज में, जन-संप्रभुता शासक वर्ग द्वारा परिचालित की जाती है अथवा वह उसे कुचलने का प्रयास करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जन-संप्रभुता लोक-सत्ता को राज्याय संप्रभुता का आधार मानती है। इस सिद्धांत ने जनतंत्रों को हिलाकर रख दिया, परन्तु यूरोपीय लोकतंत्रों एवं वर्ग-विभाजित समाजों में यह सिद्धांत ज़्यादा तर्क-संगत नहीं है। यूरोपीय संसार में जन-संप्रभुता संबंधी 18वीं सदी के सिद्धांत ने स्वयं को वर्तमान शती में मध्यवर्ग के संप्रभुता सिद्धांत में बदल लिया है।

### 12.7.3 संप्रभुता : संविधान-निर्माण शक्ति के रूप में

जन-संप्रभुता सिद्धांत ने जब राजसी संप्रभुता को उखाड़ फेंकने व लोकतांत्रिक सरकारें स्थापित करने संबंधी अथवा काम पूरा कर लिया, तो संप्रभु सत्ता संबंध फिर से परखा गया। उन्नीसवीं शती में यह काम अनेक कानूनज्ञों का था, जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संप्रभुता उस व्यक्ति/व्यक्तियों के निकाय में पायी जाती है जो राज्य का संविधान रचते हैं अथवा जो एक बार संविधान बन जाने के बाद, उसमें संशोधन संबंधी कानूनी अधिकार रखते हैं। इस सिद्धांत ने, जो कि अनिवार्य रूप से स्वभावतः विधिवेत्तावादी है, निम्न परिणाम दिए : किसी राज्य में सर्वोच्च कानून उसका संविधान होता है। सिद्धांतों का यह निकाय सरकार का ढाँचा तैयार करता है, उसके अधिकारों की रूपरेखा बनाता है, और राज्य के उसके नागरिकों के साथ संबंध समंजित करता है। इस प्रकार, सरकार संविधान द्वारा अपनी शक्ति में मर्यादित रहती है, और उस निकाय की तुलना में निम्न स्थिति पर रहती है जो इस बुनियादी कानून को बना या बदल सकता है। जो कोई भी संविधान रचता है राज्य का सर्वोच्च कानून बनाता है और अपनी स्पष्ट इच्छा व्यक्त करता है; इसी कारण वह संप्रभु हो सकता/सकती है। कुछ राज्यों में, राष्ट्रीय विधायिका इस शक्ति का प्रयोग करती है; अन्य में, संविधान-निर्माण हेतु एक विशेष साधन अथवा एक विशेष प्रक्रिया-क्रम की आवश्यकता होती है।

मगर इस सिद्धांत की प्रतीयमान वैधता के मूल पर एक अधिक गंभीर आपत्ति की जाती है। संविधान-संशोधनकारी अंग के पास कानूनन असीमित शक्ति नहीं होती जो कि संप्रभुता का सारतत्त्व है। यह कानूनी रूप से केवल एक काम कर सकता है और वह है संविधान का संशोधन। इस अधिकार के परे जाने का अथवा कोई अन्य कानून बनाने का कोई भी प्रयास सत्ता का एक गैर-कानूनी अनधिकार ग्रहण होगा। हम, इस प्रकार, एक स्वतंत्र और विषिष्ट कार्य-संचालन हेतु कानूनन परिसीमित रहते हुए संप्रभु निकाय संबंधी तुलनात्मक भिन्नता रखते हैं। संविधान-निर्मात्र निकाय, इसीलिए, संप्रभुता नहीं होता। यह महज सरकार का एक भाग होता है, जिसके पास सरकार के विभिन्न अन्य अंगों के बीच संप्रभुता शक्ति के समस्त प्रयोग को पुनर्वितरित करने संबंधी सीमित, पर महत्त्वपूर्ण, प्रकार्य को करने का कानूनी अधिकार होता है।

### 12.7.4 कानून-निर्माण शक्ति संबंधी संप्रभुता

यह सिद्धांत संप्रभुता को कानून के अनुसार सरकार में सभी कानून-निर्मात-निकायों के कुलयोग में ढूँढता है। राज्य में सभी निकाय, राज्येच्छा की अभिव्यक्ति में स्वयं को कानूनी रूप से बाँटते हुए संप्रभु भी होते थे। इनमें शामिल थे : न्यायालय (क्योंकि वे कानून रचते थे), प्रशासनिक पदाधिकारीगण (चूँकि उनके पास विवेकाधिकार थे), निर्वाचक (क्योंकि वे मामले चुनावों व जनमत-संग्रह के माध्यम से निबटाते थे) और ऐसे ही अन्य विशेष निकाय। यह सिद्धांत राज्य व सरकार प्रत्येक को एक इकाई समझता है और संप्रभुता दोनों में निहित होती है, परन्तु प्रयोग सरकार द्वारा की जाती है। इस प्रकार, समग्रता में, राज्य एक इकाई है परन्तु इसका अधिकार प्रयोग सरकार के अनेक अंगों के बीच बाँटा जाना होता है। इस प्रकार, यह सिद्धांत जन-संप्रभुता संबंधी सिद्धांत की अस्पष्टता और भ्रमात्मक सोच से बचता है। संप्रभुता अन्ततोगत्वा राज्य में ही रहती है, परन्तु उसकी सरकार द्वारा निर्मित और प्रदत्त कानूनों के माध्यम से ही संप्रभुता अभिव्यक्त की जा सकती है।

### 12.8 डी जॉर और डी फ़ैक्टो संप्रभुता

संप्रभुता का यह पहलू अन्तरराष्ट्रीय कानून द्वारा लागू किया गया है। जब कभी भी किसी देश में राजनीतिक उथल-पुथल होती है अथवा कोई गृह-युद्ध होता है अथवा कोई इस प्रकार की स्थिति हो जाती है तो हमारे पास दो प्रकार की सरकार होती हैं – वैध सरकार, जो निर्मूल कर दी गई हो और नयी सरकार, जो यद्यपि वैध नहीं है पर वास्तविक सत्ता रखती है। इस प्रकार की स्थिति में, (कौन-सी) सत्ता को मान्यता वाली माना जाये का प्रश्न उठता है। वैध संप्रभुता ऐसी सर्वसत्ता है जो राज्य को उच्चतम आदेश जारी करने हेतु कानूनन सक्षम है। इसको संप्रभु-शक्ति प्रयोग का कानूनी अधिकार होता है और जन-साधारण का स्वीकार्य। एक वास्तविक (डी फ़ैक्टो) संप्रभुता ऐसी सर्वसत्ता है जिसके पास वास्तविक शक्ति होती है और जो उससे सहमत होने के लिए वास्तविक आदेश रखती है। उसका प्राधिकार शारीरिक बल और नियंत्रण में निहित होता है। वह एक राज्यापहरण करने वाला राजा, एक तानाशाह, एक पादरी, एक पैगम्बर, अपना एक करिष्माई नेता हो सकता है। इन किसी भी उदाहरणों में, उसकी शक्ति कानून में नहीं वरन् शारीरिक बल व वास्तविक नियंत्रण में निहित होती है।

संप्रभुता के वास्तविक प्रयोग संबंधी उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। सन् 1649 में, इंग्लैण्ड में क्रौम्वैल लम्बे समय से स्थायी संसद को भंग करके वास्तविक संप्रभु बन गया। नैपोलियन डायरैक्टॉरि को समाप्त कर फ्रांस का वास्तविक संप्रभु बना। सन् 1917 में, जार निकोला को रूसी जनता द्वारा अपदस्थ कर दिया गया और वास्तविक संप्रभुता लैनिन के नेतृत्व में बोल्शविक पार्टी के हाथों में आ गई। इसी प्रकार, 1949 में माओ-जेदौंग के नेतृत्व में, वैध संप्रभु चियांग काइ-षेक को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा हटा दिया गया, और वहाँ उसके नेतृत्व में समाजवादी राज्य वास्तविक बन गया। सन् 1975 में बांग्लादेश, 1976 में अर्जेन्टीना व लेबनान, 1977 में व फिर 2001 में पाकिस्तान, 1978 में अफगानिस्तान, 1979 में ईरान एवं 1980 में युगांडा में फौजी तख्ता-पलट के कारण इसी प्रकार की स्थितियाँ पैदा हुईं। किसी देश में जब कोई गृह-युद्ध होता है तो इसी तरह की स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

एक वास्तविक संप्रभु आगे चलकर एक वैध संप्रभु भी बन सकता है, क्योंकि उसके पास वास्तविक सत्ता होती है। वास्तविक संप्रभु का हमेशा यह प्रयास होता है कि स्वयं को एक वैध संप्रभु में तब्दील कर ले। चूँकि वास्तविक सत्ता वास्तविक संप्रभुता में ही निहित होती है, वह अपना दावा जतलाने और आगे चलकर एक कानूनी संप्रभुता के रूप में मान्य होने के लिए एक बेहतर स्थिति में होता है।

तथापि, कुछ न्यायशास्त्री यह कहते हैं कि संप्रभु महज एक कानूनी अवधारणा है और वास्तविक एवं वैध संप्रभु के बीच भेद एक राजनीतिक गल्प कथा (Fiction) है, क्योंकि एक वास्तविक संप्रभुता का प्राधिकार अवैध होता है। परन्तु यह एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए, यथा वास्तविक एवं वैध के बीच भेद अधिकार प्रयोग के संबंध में ही होता है। यह बात मुख्यतः अन्तरराष्ट्रीय कानून एवं लोकतंत्र के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। यह प्रश्न एक राज्य में केवल किसी क्रांति, राज्य-विप्लव, गृह-युद्ध, आदि के उदाहरण में ही महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि ऐसे मामलों में संप्रभुता हेतु बहुत अधिक संख्या में राजनीतिक दावे उभरकर आते हैं।

#### बोध प्रश्न 4

**नोट:** i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता संबंधी विभिन्न स्रोतों को सूचीबद्ध करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) संप्रभुता संबंधी किन्हीं दो स्रोतों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 12.9 संप्रभुता विषयक सीमाएँ

हम पहले ही काफी विस्तार में यह चर्चा कर चुके हैं कि संप्रभु ही बिना किसी कानून प्रतिबन्ध के राज्य की सर्वोच्च सत्ता होती है। परन्तु यथार्थ व्यवहार में, कुछ सीमाएँ हैं, जो उसकी शक्तियों के प्रयोग को सीमित कर सकती हैं अथवा उन्हें ऐसा करना चाहिए।

### 12.9.1 नैतिक सीमाएँ

अनेक पूर्वकालीन लेखकों का दावा था कि संप्रभु दैवी कानून द्वारा, प्राकृत-कानून द्वारा अथवा नैतिक कानून द्वारा मर्यादित है। वे आमतौर पर धर्म, नैतिकता एवं न्याय के सिद्धांतों को स्वीकार करते थे, जो कि निस्संदेह संप्रभु के प्रयोग को प्रभावित करते हैं। परन्तु ईष्वरीय एवं प्राकृत कानूनों की मानव अभिकर्ताओं द्वारा व्याख्या की जानी आवश्यक होती

है; वे अपने आप किसी संप्रभुता का प्रयोग नहीं करते। वे कानूनी मर्यादाएँ नहीं बल्कि उस बौद्धिक वातावरण का एक भाग मात्र हैं, जिसमें कानून बनाए जाते हैं। वे संप्रभु पर सिर्फ इस अर्थ में प्रतिबंध लगाते हैं कि एक अनुभव-सम्पन्न राज्य ऐसे कानून लागू नहीं करेगा जो आमतौर पर स्वीकृत नैतिकता व न्याय संबंधी विचारों के विरुद्ध हों, विरोध के कारण ऐसे कानून पैदा होंगे जो उन्हें लागू करने में परेशानियाँ, यहाँ तक कि क्रांति, की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। केवल ऐसे ही कानूनों को एक आम रायषुमारी द्वारा समर्थन दिया जाता है जिनको सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है। आधुनिक राज्यों में, जीवन के अनेक पहलुओं को सरकारी हस्तक्षेप से छूट प्राप्त है, और कोई भी राज्य जो मानव जीवन के कुछ निष्चित संबंधों में हस्तक्षेप हेतु अपनी कानूनी शक्ति का प्रयोग करने का प्रयास करेगा, उसे भारी विरोध का सामना करना पड़ेगा और यहाँ तक कि एक क्रांति के माध्यम से उसे उखाड़ फेंका भी जा सकता है।

### 12.9.2 संवैधानिक सीमाएँ

कुछ लेखकों ने दावा किया है कि संप्रभुता राज्य के संविधान द्वारा परिसीमित होती है। वे बुनियादी अथवा संवैधानिक कानून और सरकार द्वारा बनाए गए आम कानूनों के बीच भेद करते हैं—□पूर्ववर्ती को उच्चतर कानून मानते हैं, और परवर्ती को तभी वैध मानते हैं जब वह पूर्ववर्ती के अनुसार हों। इस दृष्टिकोण से, दो आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। राज्य की संप्रभुता संविधान द्वारा परिसीमित नहीं है, क्योंकि राज्य जब भी चाहे अपने संविधान में कानूनन संशोधन कर सकता है। अपने आप थोपी गई और मर्जी से हरा देने योग्य सीमा कोई वास्तविक अथवा कानूनी सीमा नहीं होती। संविधान द्वारा जो परिमित है वह राज्य अथवा उसकी संप्रभुता नहीं है, बल्कि राज्य की सरकार है। परन्तु अपनी संप्रभु शक्तियों के एक वैध व्यवहार-वितरण हेतु यह प्रावधान स्वयं संप्रभुता पर कोई सीमा-निर्धारण नहीं करता।

दूसरी ओर, एक उच्चतर कानून और एक निम्नतर कानून जैसी कोई चीज़ नहीं होती। कानून उस व्यवस्था उस समस्या के महत्त्व में भिन्न हो सकते हैं जिनसे उनका संबंध हो। दोनों ही राज्य की संप्रभु शक्ति का वही हिस्सा प्रयोग करते हैं जो कि इसकी संगठन-संबंधी कानूनी व्यवस्था उन्हें सौंपती है। संविधान स्वभाव व उद्देश्य में अन्य कानूनों से भिन्न होता है, परन्तु कानूनी वैधता में नहीं होता। अन्य कानूनों के तरह ही, यह राज्य की संप्रभु इच्छा की एक अभिव्यक्ति होता है, न कि उस पर लगाया गया कोई प्रतिबन्ध।

### 12.9.3 अन्तरराष्ट्रीय सीमाएँ

आज अनेक लेखक यह दावा करते हैं कि किसी राज्य की संप्रभुता अन्तरराष्ट्रीय कानून के नियमों द्वारा और उन संधियों व समझौतों द्वारा परिसीमित होती है, जो वे अन्य राज्यों के साथ करते हैं। संप्रभुता के यथार्थ, न्यायशास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार, ये सीमाएँ कानूनन बाध्यकारी नहीं हैं। ये स्वैच्छिक, स्वयं लागू की गई सीमाएँ हैं, जो कि एक राज्य कानूनन अस्वीकार कर सकता है, और कोई भी कानूनी प्राधिकरण ऐसा नहीं होता जो उन्हें बलपूर्वक लागू करे। राज्यों को अवश्य ही, अन्तिम विप्लेषण में, अपने अधिकारों एवं दूसरों राज्यों के प्रति दायित्वों का निर्णायक होना चाहिए। वे अपनी संधियों को अस्वीकार कर सकते हैं, अन्तरराष्ट्रीय कानून के नियमों को स्वीकार करने में बाध्यता से इंकार कर सकते हैं, और अन्तरराष्ट्रीय कानूनों संबंधी अपनी व्याख्या की रक्षार्थ युद्ध की घोषणा कर सकते हैं। अन्तरराष्ट्रीय कानून इस अर्थ में कानून नहीं है कि अधीनस्थों पर थोपी जा सकने वाली यह एक निर्धारित संप्रभु की इच्छा है।

यदि, कुछ लेखक मानते हैं, यह वर्तमान प्रवृत्ति एकीकृत नियंत्रण वाले एक अन्तरराष्ट्रीय संप्रभु संगठन के विकास की ओर हो, तो परिणाम एक विष्व संप्रभु राज्य होगा, जिसके पास कानून बनाने व लागू करने का अधिकार होगा। उस स्थिति में, जिसे अब हम अन्तरराष्ट्रीय कानून कहते हैं कानून होगा, परन्तु तब यह अन्तरराष्ट्रीय नहीं रहेगा, क्योंकि यह एक विष्व-राज्य की एकीकृत इच्छा होगी। जिसको अभी बाह्य संप्रभुता कहते हैं, का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, क्योंकि उसको विष्व व्यवस्था की आन्तरिक संप्रभुता द्वारा हड़प लिया जाएगा। अधिकांश लेखक, हालाँकि, यह मानते हैं कि संप्रभु राष्ट्रीय राज्यों के आधार पर अन्तरराष्ट्रीयवाद विकसित करने के लिए, वर्तमान परिस्थितियों में, यह अधिक व्यवहार्य होगा। यदि यह किया जाना है, तो बाह्य-संप्रभुता संबंधी पारम्परिक सिद्धांत एवं राज्यों की समानता को अवश्य ही आधुनिकीकृत किया जाना चाहिए ताकि अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण की एक निश्चित मात्रा को ही अनुमति मिले।

## 12.10 संप्रभुता-सिद्धांत विषयक आलोचनाएँ

राज्य के सारतत्त्व के रूप में संप्रभुता संबंधी संकल्पना की बेहद तीखी आलोचना की गई है। लेखकों का एक वर्ग यह तर्क देता है कि राज्य के अस्तित्व के लिए संप्रभुता आवश्यक नहीं है, लेखकों का एक अन्य वर्ग इस बात से इंकार करता है कि संप्रभुता ही कानून का स्रोत है, तिस पर भी एक अन्य वर्ग इस तथ्य को टुकराता है कि संप्रभुता ही राज्य का अनन्य स्वत्व है और यह तर्क देता है कि संप्रभुताओं के बाहुल्य से ही विभिन्न संस्थाएँ सम्पन्न होती हैं।

लेखक जो यह कहते हैं कि संप्रभुता आवश्यक नहीं है, तर्क देते हैं कि राज्य अंशतः संप्रभु हो सकते हैं और राज्य-पद की कसौटी ही शासनाधिकार है। ये बेहद जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के थे और वे राज्य-पद के दावे पर तो सहमत हुए, पर पूर्ण संप्रभुता पर नहीं। यहाँ तक कि आज के राजनीतिक निकाय, जिनके पास अपना संविधान और सरकार है, पूर्णतः संप्रभु नहीं है। कुछ लेखक इस सिद्धांत को व्यर्थ और खतरनाक मानते हैं क्योंकि यह असीमित अधिकारों की ओर प्रवृत्त करता है; जबकि अन्य लेखक राज्यीय संप्रभुता संबंधी धारणा की तीखी आलोचना करते हैं, क्योंकि उनकी इच्छा राज्य के सिवा अन्य संस्थाओं को पूर्ण स्वायत्तता देने की है; अन्य इसलिए कि उनकी वैयक्तिक स्वतंत्रता में रुचि है। राज्यीय संप्रभुता की तीखी आलोचना आधुनिक राज्य के सरकारी संगठन में कुछ दोषों को इंगित करने में महत्वपूर्ण है, जो संप्रभुता अधिकार-प्रयोग में अड़चन डालते हैं।

हाल ही के बीते वर्षों में, न्यायशास्त्रियों द्वारा आलोचना की तुलना राज्य संप्रभुता से की गई है जो कि कानून की सर्वोच्च और एकमात्र स्रोत होती है। इस अवधारणा को कि राज्य की संप्रभुता प्राकृत कानूनों द्वारा वैध रूप से परिसीमित होती है, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि राज्य उन सिद्धांतों को परखता और अनुभव करता है। ऐसी सीमाएँ कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं होतीं, बल्कि सिर्फ स्वयं सीमाकारी होती हैं। इसका अर्थ कोई संप्रभुता पर प्रतिबंध नहीं है।

इस अवधारणा की एक और तीखी आलोचना के अनुसार, सर्वोच्च प्राधिकार हेतु राज्य का दावा आज के जटिल संसार में वास्तविक तथ्यों के अनुसार नहीं है। उन्होंने राज्य पर संदेह किया, एक स्वतंत्र एवं एकीकृत संप्रभुता के सिद्धांत का विरोध किया और अन्य अभिकरणों के लिए सामाजिक नियंत्रण के एक अधिक बड़े हिस्से की माँग की। इस प्रकार की आलोचना का उद्देश्य प्राधिकार के विकेन्द्रीकरण और अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता पर ध्यान देना था।

आज, आर्थिक हितों की वृद्धि, और आर्थिक संघों की शक्ति ने उनके और सरकार के विद्यमान अंगों के बीच प्राधिकार संबंधी विवाद पैदा कर दिए हैं। राज्य अपने संगठन व कानून को नई परिस्थिति के अनुसार एकदम अनुकूलित नहीं कर लेता। ऐसे वक्त में, राज्य का निरंकुष और असीमित प्राधिकार संबंधी सिद्धांत खतरनाक और अवांछित लगता है। इस कारण से, बहुवाद ही स्वाभाविक दृष्टिकोण है। बहुवादी लोग एक तेजी से बदलती सामाजिक व्यवस्था में राजनीतिक जीवन के वास्तविक तथ्यों के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देते हैं। इस संबंध में राज्य द्वारा अति-हस्तक्षेप का खतरा और राजनीतिक तंत्र में अधिक वैध मान्यता दिए जाने की वान्छनीयता की ओर इशारा करते हैं।

तथापि, यह समस्या राज्य के उचित आन्तरिक संगठन एवं उसकी कार्यवाहियों के उचित कार्यक्षेत्र संबंधी है, और इसका अर्थ राज्य-संप्रभुता संबंधी सिद्धांत का परित्याग नहीं है। कहीं तो सर्वोच्च कानूनी नियंत्रण संबंधी कोई संगठन होना चाहिए और वैसे काफी कुछ राज्य ही अपनी कार्यवाहियों की सीमित कर सकता है अथवा अपने आंतरिक प्राधार को पुनर्संगठित कर सकता है, एक संप्रभु राज्य फिर भी कायम है। यहाँ तक कि भूमण्डलीकरण के इस वर्तमान युग में की, जब राज्य संप्रभुता को प्रतीयमानतः विभिन्न अधि-राष्ट्रीय अभिकर्ताओं से खतरा है।

### बोध प्रश्न 5

**नोट:** i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता नैतिकता द्वारा किस प्रकार परिसीमित है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) संप्रभुता विषयक संवैधानिक अथवा अंतरराष्ट्रीय प्रतिबंधों पर विचार-विमर्श करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) उन आधारों पर सूक्ष्म दृष्टि डालें जिन पर संप्रभुता की तीखी आलोचना की गई है।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 12.11 सारांश

इस इकाई में, हमने संप्रभुता की अवधारणा पर एक सिद्धांत दृष्टि डाली, जिसका अनिवार्यतः अर्थ है कि राज्य किसी प्राधिकार प्रभाव की मदद से अपने सभी कार्यों को निष्पादित करता है। इसके लक्षणों में आते हैं—चरमता, जिसका अर्थ है कोई आंतरिक अथवा बाह्य सीमाएँ नहीं; सर्वव्यापकता, जिसका अर्थ है राज्य में हर व्यक्ति पर उसका अधिकार; स्थायीत्व, जिसका अर्थ है राज्य के बने रहने तक उसकी निरन्तरता; और अभाज्यता, जिसका अर्थ है सिर्फ एक ही प्रभुसत्ता होती है।

संप्रभुता आमतौर पर उदयीमान राष्ट्रीय राज्यों के बीच विवाद के कारण जन्मी। जब राज्य को उसके सभी नागरिकों पर सर्वोच्च के रूप में मान लिया गया, संप्रभुता की अवधारणा चरम और असीमित के रूप में सिद्ध हो गयी। तथापि, संप्रभुता के विचार की एक भिन्न ढाँचे में व्याख्या की गई। कानूनी संप्रभुता को एक सर्वोच्च कानून-निर्यात— शक्ति के रूप में समझा गया, जो कि किसी कानून से नहीं बँधी थी। इसके कानून सभी द्वारा पालन किए जाने थे और इसमें दण्ड और अवज्ञा शामिल थे। ऑस्टिन इस धारणा के मुख्य व्याख्याता थे। दूसरी ओर, राजनीतिक संप्रभुता जनसाधारण की क्रांतिकारी शक्ति थी जो किसी भी वैध संप्रभु को नष्ट कर सकती थी। अतः, एक प्रतिनिधि लोकतंत्र में, वैध संप्रभुता को राजनीतिक संप्रभुता के साथ अन्तरंग सानिध्य में काम करना पड़ता था। अन्यथा, क्रांतिकारी राजनीतिक संप्रभुता द्वारा वैध संप्रभुता के समाप्त होने का खतरा होता था।

संप्रभुता का अर्थ यह भी लगाया जाता है कि प्रजाजन के पास सर्वोच्च सत्ता है और कि वे ही सभी शक्तियों के स्रोत हैं। रूसो ने अठारहवीं शती के दौरान आम इच्छा संबंधी अपनी सिद्धांत-व्याख्या में इसका समर्थन किया था। यह सिद्धांत ही आधुनिक लोकतंत्रों का इतिहास है। लोकप्रिय संप्रभुता सिद्धांत इस बात की मान्यता देता है कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में संप्रभु शक्तियाँ व्यापक रूप से वितरित हैं और एक बड़ी संख्या में नागरिकों द्वारा प्रयोग की जाती हैं।

हर राज्य संप्रभु शक्ति का प्रयोग कुछ निश्चित भौतिक एवं वैचारिक तंत्रों की सहायता से करता है। भौतिक तंत्र वे हैं जो राज्य की संप्रभुता को एक भौतिक रूप में अथवा एक वास्तविक दृश्य रूप में प्रभावी बनाते हैं। वैचारिक तंत्र वे हैं जो आम जनता में आज्ञापालन की आदत डालते अथवा उनको अभ्यस्त बनाते हैं और एक ऐसा माहौल पैदा करते हैं, जिसमें संप्रभुता की दिशा में लोगों की सहमति प्राप्त की जा सकती है। राज्य का भौतिक तंत्र आज्ञापालन हेतु शारीरिक बल प्रयोग करता है और, इस प्रकार संप्रभु आदेश को प्रभावी बना देता है। वैचारिक तंत्र संप्रभु को आम जनता में आज्ञापालन का मानस बनाकर और वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था को वैधता प्रदान कर प्रभावी बनाता है।

वर्तमान शती सभी सत्तावादी विचारों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया वाली शताब्दी है। संप्रभुता का बहुवादी दृष्टिकोण संप्रभुता के कानूनी, पारम्परिक, एकसत्तावादी, निरंकुष, ऑस्टिनवादी सिद्धांत के विरुद्ध और उस फासिस्ट, असीमित, सम्पूर्ण राज्य के सिद्धांत के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जिसका समर्थन हेगेल जैसे आदर्शवादी दार्शनिकों एवं नीत्ज़्से, त्रीत्सके व बर्नहार्डी जैसे राज्य व राजनीति संबंधी सत्ता-विचार के समर्थकों द्वारा किया गया। इसको राज्य की नितान्त केन्द्रीकृत संप्रभुता के विरुद्ध प्राधिकार के विकेन्द्रीकृत हेतु एक सशक्त आवाज़ कहा गया। यह 19वीं सदी के अन्तिम दशकों एवं 20वीं सदी के आरम्भ में उच्चतम और सर्वोच्च सत्ता के रूप में लेते थे। इस प्रकार, बहुवाद असीमित राज्य व संप्रभुता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था; यह राज्य की निरंकुषता एवं उसकी निरंकुष संप्रभुता पर एक प्रहार था; यह राज्य की संप्रभुता को काबू करने, सीमित करने व विभाजित करने हेतु एक आवाज़ था; यह राज्य के विरुद्ध अधिकारों व सत्ता की माँगों को पूरा करने हेतु श्रमिक, आर्थिक, धार्मिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं व संघों का एक आन्दोलन था।

---

## 12.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

---

रे, अमल एवं मोहित भट्टाचार्य, *पॉलिटिकल थिअरी : आइडियाज़ एण्ड इंस्टीट्यूषन्ज़*, द वर्ल्ड प्रैस, 1985 (नया संस्करण देखें)

राफ़ैल, डी.डी., *प्रॉब्लम्स ऑफ पॉलिटिकल फ़िलोसॉफी*, मैकमिलन, लन्दन, 1985

अप्पाओद्रे, ए., *द सबस्टेंस ऑफ पॉलिटिक्स*, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1985

आसिरवथम्, एड्डी, *पॉलिटिकल थिअरी*, दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, 1984

---

## 12.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

### बोध प्रश्न 1

- 1) देखें भाग 12.1 से 12.3
- 2) देखें भाग 12.1 से 12.3

### बोध प्रश्न 2

- 1) देखें भाग 12.4
- 2) देखें भाग 12.5

### बोध प्रश्न 3

- 1) देखें भाग 12.6

### बोध प्रश्न 4

- 1) देखें भाग 12.7 और उपभाग 12.7.1 से 12.7.4
- 2) देखें उपभाग 12.7.1 से 12.7.3

### बोध प्रश्न 5

- 1) देखें उपभाग 12.9.1
- 2) देखें उपभाग 12.9.1 और 12.9.3
- 3) देखें भाग 12.10